भक्ति-मार्ग

अभक्ति का परिचय

जिस मार्ग में कृष्ण-सेवा की चर्चा नहीं उसे अभक्ति-मार्ग कहते हैं। श्रीकृष्ण की उत्तम सेवा में कृष्ण के अतिरिक्त अन्यवस्तु की अभिलाषा, कर्म, ज्ञान तथा शिथिलता का आवरण नहीं। उसमें कृष्ण का अनुकूल अनुशीलन होता है। अनेक लोग भक्त होने की अभिलाषा करते हुए भी अभक्ति के मार्ग का आश्रय ग्रहण किया करते हैं। जो कृष्ण-भक्ति के स्वरूप की उपलब्धि करते हैं और एकमात्र उसे ही जीवों की वृत्ति समझते हैं, वे ही भक्तिपथ के पथिक हैं। जिन्होंने अपनी प्रतिभा या अनभिज्ञता के ऊपर निर्भर रह कर भक्ति की संज्ञा स्वयं ही निर्धारित की हैं, उनकी इस हठकारिता से बहुधा भक्ति के स्वरूप का विपर्यय हो जाता है। कतिपय व्यक्तियों ने अपने को भक्त समझकर भक्ति के नाम पर निज कल्पित वृत्ति का ही प्रचार किया है, किन्तु गौर-सुन्दर ने कलिहत दुर्बल जीवों के कल्याणार्थ भक्ति की जो संज्ञा निर्धारित की है, वही यथार्थ भक्ति है और श्रीरूप गोस्वामी ने उसीका श्रवण और कीर्तन किया है।

निरन्तर कृष्ण का अनुशीलन ही भक्ति है

सचेत सामाजिकगण ! अपने को भक्ति की संज्ञा से भूषित करने के लिये सर्वप्रथम भक्ति के प्राकृत स्वरूप का अनुसंधान करना होगा। श्रीमन्महाप्रभु ने भक्त प्रवर श्रीपादरूप गोस्वमी से कहा था कि कृष्ण का अनुशीलन करना ही भक्ति है। अनुशीलन शब्द से निरन्तर या अनुक्षण सेवा का बोध होता है। 'अनु' शब्द से पीछे-पीछे अर्थात् अन्तर रहित से है। 'शील' धातु का अर्थ ऐकान्तिकभाव से प्रवृत्त होना है। अनुशीलन दो प्रकार का है-(१) चेष्टा रूप (२)भावना रूप। (१) कृष्ण के लिए कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टा-समूह 'चेष्टारूप' अनुशीलन है। इसके दो भेद हैं—सेवा के अनुकूल कायिक, वाचिक और मानसिक अनुशीलनरूप प्रवृत्यात्मक (विधि-मूलक) और प्रति-कूल वर्जन-रूप निवृत्यात्मक (निषेध-मूलक)। (२) प्रीति

विषयक मानसिक अनुशीलन ही भावनारूप (रागानुगा) अनुशीलन है।

श्रीगौर-कृष्ण, नित्यानन्द-राम और जीव तत्त्व

कृष्ण कहने से परमेश्वर, सच्चिदानन्द विग्रह, अनादि, सर्वादि तथा सर्वकारणों के कारण का निर्देश होता है। इनसे ही सविशेष तत्त्व बलदेव और श्रीनारायण का प्रकाश होता है। गोलोक में माधुर्य के परम आश्रय व्रजेन्द्रनन्दन ही माधुर्यदाता औदार्य के परम आश्रय श्रीगौर-हरि हैं। ये बैकुण्ठ में अपनी प्रकाश-मूर्त्ति नित्यानन्द-राम के द्वारा सविशेष ऐश्वर्य-विग्रह को प्रकाशित कर श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध नामक व्यूह चतुष्टय को नित्यकाल प्रकट करते हैं। ये सभी एक अद्वय तत्त्व हैं। इसी अद्वय तत्त्व वस्तु से भगवान के मुख्य नित्य अवतार समूह प्रकटित हुए हैं। भगवान के पुरुषावतार, नैमित्तिकावतार, गुणावतार प्रभृति विष्णुतत्त्व जीव को भगवान् और तदितर वस्तु के पार्थक्य की उपलब्धि कराते हैं। मायाधीश विष्णु जीव को विशुद्ध भाव से अपना अनुशीलन करा कर विष्णु व्यतिरिक्त अन्य प्रतीतिरूप माया के कवल से उसका उद्धार करते हैं। जीव जिस कृपा-रज्जु का अवलम्बन कर कृष्णप्रेम लाभ करते हैं, उसे भक्ति कहते हैं। भक्ति के उदय होने पर जीव भक्त संज्ञा लाभ करते हैं। भक्त भक्ति के द्वारा भगवान कृष्णचन्द्र का भजन कर सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ लाभ करते हैं।

अभक्ति-वृत्ति का लक्ष्य

भक्ति-वृत्ति के सुप्त हो जाने पर जीव अभक्ति की किसी एक वृत्ति का अवलम्बन करता है। उस समय उसकी वृत्ति भजन-शून्य होकर लक्ष्य तत्त्व-वस्तु को कभी परमात्मा और कभी निर्विशेष ब्रह्म की संज्ञा देती है, सुतरां योगियों का परमात्मा तथा ज्ञानियों का ब्रह्म, कृष्ण के आंशिक तथा भेदाभेद प्रकाश विशेष हैं। कृष्ण चिन्तन के सिवा अन्य किसी चिन्ता के प्रबल होने पर जीव भक्ति-वृत्ति से च्युत होकर भगवत दर्शन से वञ्चित हो जाता है। तब वह तत्त्व वस्तु को

कभी सहस्रार परमात्मा, कभी उसे अज्ञान का प्रकाशक पञ्चदेवता और कभी अज्ञान-समष्टि की उत्कृष्ट उपाधि को ही विशुद्ध सत्त्व है—प्रभृति भक्ति विरोधी विचारों का आश्रय ग्रहण करता है । कृष्ण की भगवत्ता भूल कर भोगतात्पर्यमय होकर कृष्ण को जड़ कर्मफलदाता, यज्ञों का ईश्वर तथा गोब्राह्मणों का हितकारी प्रभृति उसके ईश्वरत्व को ही अन्तिम मान लेता है । फिर अपने विभुत्व और प्रभुत्व में व्यस्त रह कर यथेच्छाचार और भोगमय जीवन को ही हरित्व समझता है। भक्तों के अतिरिक्त अन्यान्य लोगों के द्वारा कथित कृष्ण से यहाँ तात्पर्य नहीं है। किंतु के भक्तों द्वारा लक्षित 'कृष्ण' शब्द ही प्रकृत कृष्ण का परिचायक है। बिना भक्ति-शास्त्र की आलोचना किये ही जो लोग 'कृष्ण' शब्द की कल्पनामूलक व्याख्या कर उन पर ही आस्था रखते हैं, वे चैतन्यचन्द्र के लक्षित कृष्ण को अपनी कोरी कल्पनाओं से केवल कलंकित ही करते हैं, वस्तुतः वे न तो स्वयं ही कुछ समझते हैं और न दूसरों को ही समझा सकते हैं। इन बंचक और वंचितों के प्रति हमारा कुछ भी वक्तव्य नहीं है ।

अनुकूल-प्रतिकूल रूप द्विविध कृष्णानुशीलन

अनुकूल और प्रतिकूल उभय प्रकार से कृष्ण का अनुशीलन हो सकता है। जरासंध, कंस, दन्तवक्र, शिशुपाल, पूतना, अघवक प्रभृति असुरगण और निर्विशेषवादी ज्ञानी प्रतिकूल भाव से कृष्ण का अनुशीलन करते हैं। प्रतिकूलभाव के अवलम्बन से सेवा में विपर्यय घटता है। अतएव वह भक्ति नहीं। अनुकूल कहने से कृष्ण के उद्देश्य से रोचमाना (अनुराग-पूर्ण) प्रवृत्ति का बोध होता है । अनुकूल भाव से तैलधारावत् अन्तर-रहित सर्वतोभावेन प्रवृत्त होकर भजन सिद्ध होता है।

अनुकूल-अनुशीलन का स्वरूप

अनुकूल अनुशीलन में सर्वप्रथम कृष्ण-सेवा के अतिरिक्त अन्य अभिलाषाओं का अभाव होना आवश्यक है। भक्त कृष्ण की निजी-सेवा करता है। उसकी कृष्ण-सेवा का फल भी कृष्ण के लिये ही होता है, उसमें कोई अन्य उद्देश्य नहीं रहता। अगर उस

सेवा में अपने लिए लेशमात्र भी भोगवांछा का सम्मिश्रण रहे तो वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुवर्ग के अन्तर्गत एक हैतुकी वृत्ति हो जाती है तथा कृष्ण प्रीति के उद्देश्य से पृथक होने से उस वृत्ति को अन्याभिलाष कहते हैं। यथेच्छाचारी कुकर्मी अथवा अज्ञान-सेवी-कुज्ञानीगण कृष्ण-सुख के अतिरिक्त मन ही मन अपनी काल्पनिक प्रार्थनाओं का पोषण करते हुए यदि कृष्ण का अनुकूल आनुशीलन करे भी तो उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है। जिनके हृदय में प्रतिष्ठा की आशा है, जिन्हें इन्द्रिय-सुख की लालसा है, जो पार्थिव या मोक्ष सम्बंधी परोपकार अथवा निज उपकार के लिए व्यग्र हैं, जो अपनी पाण्डित्य-प्रतिभा के विस्तार के इच्छुक हैं, जो रोग-शांति के लिए उत्कंठित हैं, जो उत्तम आचार्य वंश या वर्णगत सम्मान पाने में तत्पर हैं, जो लाभ-पूजा प्रतिष्ठा, निषिद्ध आचार, कुसंस्कार जीव-हिंसा प्रभृति ऐहिक अथवा स्वर्ग-सुख भोगने में रत हैं;जो वेश या आश्रम के माहात्म्य के लोलुप हैं और जो मुमुक्षु, सिद्धि कामी हैं वे अपने अपने आवान्तर उद्देश्यों से युक्त रह कर कृष्ण का अनुकूल अनुशीलन करें भी तो उनके सभी कृष्णानुष्ठान कपटतापूर्ण हैं। सुतरां इस भक्ति के मार्ग में कृष्ण-सेवा के उद्देश्य से भ्रष्ट होकर अन्य अभिलाषाओं से युक्त होकर भी भगवदनुशीलन देखा जाता है।

अमल ज्ञान का विचार और पठन पाठन ही भक्ति है

ज्ञान के आवरण में भक्ति का होना सम्भव नहीं अर्थात् ज्ञान का आश्रय ग्रहण करने से भक्ति नहीं हो सकती। यहाँ 'ज्ञान' शब्द से निर्भेद ब्रह्मानुसंधान का लक्ष्य किया गया है। कृष्ण ही एक मात्र उपास्य वस्तु हैं। कृष्ण विषयक परेशानुभूति अर्थात् भजनीय वस्तु के स्वरूप का ज्ञान भक्ति के साथ ही साथ युगपत् आवश्यक है। श्रीमद्भागवत के अंतिम श्लोकों में स्पष्ट किया गया है कि भक्तवैष्णवों के प्रिय निर्मल पुराण शास्त्र श्रीमद्भागवत् में एक मात्र परमहंस अमलज्ञान ही विशिष्टरूप में कीर्तित हुआ है, और इस शास्त्र में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति एकत्र आविर्भूत

होकर जीवों के कर्म-भोगफल को निरस्त करते हैं। सुतरां श्रीमद्भागवत के श्रवण, उत्तमरूप पठन तथा नाना प्रकार के मतवादों की अकर्मण्यता उपलब्धि करने के लिए विचारपूर्वक भक्ति के सिद्धांतों पर उपनीत होने से जीव भक्ति का अवलम्बन कर अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान तथा शिथिलता से अपने को मुक्त करने में समर्थ होता है। श्रीचैतन्य चरितामृत के आदि लीला द्वितीय परिच्छेद संख्या १७, में इस विषय का और भी स्पष्टीकरण किया गया है।

सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस ।
इहा हैते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस ॥

[अर्थात् भगवत् तत्त्वज्ञानादि सिद्धान्त विषयों को जानने में आलस्य करना उचित नहीं, क्योंकि इसके द्वारा ही श्रीकृष्ण के पाद-पद्मों में भक्ति सुदृढ़ होती है।]

भक्ति के साथ शुद्ध ज्ञान और वैराग्य का उदय

भक्ति के प्रारम्भ में श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा के बिना भक्ति का उदय नहीं हो सकता। पहले साधुओं के संग में शास्त्रों के श्रवण से श्रद्धा उदित होती है। शास्त्रीय वचनों में विश्वास होने को श्रद्धा कहते हैं। सम्बन्ध ज्ञान उदय होने के पूर्व ही अभिधेय भक्ति अग्रसर हुई है—ऐसा कदापि नहीं हो सकता, "भक्ति परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष: त्रिक एक काल:।" भक्ति के साथ ही साथ कृष्णेतर विषयों से वैराग्य और भगवत् विषयक ज्ञान का उदय होता है। भक्ति के बिना उनके अस्तित्व की संभावना नहीं। जो लोग मायिक ज्ञान की सहायता से ज्ञानी बनने के लिए निष्फल मिथ्या प्रयास करते हैं उनका वह प्रयास भक्ति का अंग नहीं हैं। ब्रह्म का अविद्याग्रस्त खण्ड-विशेष ही बद्ध जीव है—ऐसे मायिक विचार वाले ज्ञानियों की चेष्टा में सम्पूर्णरूप से मुक्तिरूप कपट-धर्म अन्तर्निहित होता है। हेतुक ज्ञान कभी भी शुद्ध भक्ति का अंग नहीं है। अगर भक्तों के हृदय में मुक्तिरूपी पिशाची वर्तमान रहे तो वह साधक भक्त को कृष्ण-भक्ति से अवश्य ही विपथगामी बना देती है।

अद्वय और अद्वैत ज्ञान

शुद्ध भक्ति वणिक्-वृत्ति (लेन देन का व्यापार) से पृथक है। शुद्ध भक्ति के बदले में कृष्ण द्वारा अपनी किसी कामना की पूर्ति एक लेन देन का कारोबार हो जाता है। यह वृत्ति भक्त को कृष्ण के अनुकूल अनुशीलन से विच्युत कर अन्याभिलाषी अथवा अहंग्रहोपासक (अपने को ब्रह्म या भगवान समझ कर उपासना करने वाला) बना देती है। इन शुष्क तर्कों से तत्त्व-वस्तु और श्रीकृष्ण पृथक् पृथक् हो जाते हैं। भक्ति विरोधी ज्ञानी आत्मबंचक है। वह केवल केवला अहैतुकी प्रेमलक्षणा भक्ति को अज्ञान-मिश्र प्राकृत समझ कर अपनी मूढ़ता प्रकाश करता है। इन शुष्क ज्ञानियों के निर्भेद ज्ञान-रूपी (जीव ब्रह्मैक्यवाद) अज्ञानान्धकार के पटल से भक्तों की भक्ति (उपास्य और उपासक तत्त्व) आच्छादित नहीं हो सकती। कृष्ण ही अद्वय ज्ञान तत्त्व हैं। कृष्ण के व्यतिरिक्त ज्ञान में माया शक्ति की सुप्त और जाग्रत क्रियाएँ ही परिलक्षित होती हैं। सुतरां मायिक ज्ञान के आवरण में जो भक्ति सी दिखलायी पड़ती है, उसे अभक्ति कहते हैं। शुद्धा भक्ति के उदय होने पर प्रकृत ज्ञान सहायक और दासरूप से उसके साथ सदा वर्त्तमान रहता है। जिस ज्ञान का कर्तृत्व कृष्ण भक्ति के ऊपर देखा जाता है, वह कृष्ण के व्यतिरिक्त द्वैत-ज्ञान है। ज्ञानियों के अज्ञान विजृंभित मायिक निर्भेद ब्रह्म के अनुसंधान के द्वारा कृष्ण के अनुकूल अनुशीलन की सभावना नहीं, प्रत्युत भक्ति उनके ज्ञान के आवरण से आच्छादित हो जाती है।

माया के आश्रित कर्म अभक्ति और श्रीहरि के उद्देश्य की क्रिया ही भक्ति है

कर्म के आवरण में भक्ति होने की संभावना नहीं। स्मृति में जिन नैमित्तिक फल-प्रसू कर्मों का वर्णन है वे जीवों के भक्ति के आवरण हैं। कर्म—कृष्ण की जीवआवरणात्मिका माया-शक्ति का एक परिणाम है। कर्म फलवादी कर्मविपाक में पड़कर सोचते हैं कि भक्ति सत्-कर्म के प्रभाव से उत्पन्न हो सकती है, किन्तु यह भ्रममूलक विचार है। सेव्य वस्तु की

परिचर्यादि कर्मावरण नहीं बल्कि अनुकूल अनुशीलन है। जिस अनुष्ठान में जीवों का अपना फल-भोग संश्लिष्ट रहता है उसे कर्म कहते हैं और जिस अनुष्ठान का फल जीव के भोग्य न होकर स्वयं भगवान् के लिये होता है उसे भक्ति कहते हैं। भक्त के हृदय में भुक्ति पिशाची थोड़ा भी स्थान पाने से उसे कृष्ण-भक्ति के मार्ग से विच्युत कर देती है। पञ्चरात्र का कथन है—'हे देवर्षे, श्री हरि के उद्देश्य से किये हुए शास्त्र सम्मत अनुष्ठान को वैधी-भक्ति कहते हैं। इस वैधी-भक्ति के द्वारा ही प्रेम-भक्ति साधित होती है। श्री चैतन्य चरितामृत मध्यलीला २२ परिच्छेद १४१ संख्या में लिखा है—

ज्ञान, वैराग्य भक्तिर कभु नहे अङ्ग।
अहिंसा, यम, नियमादि बुले कृष्णभक्त सङ्ग॥*

ठाकुर विल्वमंगल ने भी कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्यात्
दैवेन नः फलति दिव्य किशोर मूर्त्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थ काम गतयः समय-प्रतीक्षाः॥

ज्ञान और वैराग्य भक्ति के अङ्ग नहीं

शिथिलता के आवरण में भी भक्ति उदित होने की सम्भावना नहीं। धन या शिष्य के द्वारा उत्तमा-भक्ति उत्पन्न नहीं की जासकती। विवेक द्वारा भी भक्ति नहीं होती, परन्तु भक्तों में विवेक लक्षित होता है। कृष्ण-रहित ज्ञान और वैराग्य चित्त को कठिन बना देते हैं। अतः वे सुकोमला भक्ति के लिये उपयोगी नहीं। अविरोधी ज्ञान और वैराग्य की कुछ कुछ उपयोगिता देखे जाने पर भी ये भक्ति के अङ्ग-रूप से गृहीत नहीं होते।

कर्म, ज्ञान, तपस्यादि अभक्तिमार्ग

कर्म और ज्ञान के अनुष्ठानरूप तपस्या की आवश्यकता नहीं, यदि भक्ति है। कर्म, ज्ञान, और तपस्या की उस समय भी आवश्यकता नहीं यदि भक्ति न हो। कर्म ज्ञान और तपस्या की आवश्यकता नहीं यदि हृदय और अनुष्ठान में भक्ति हो और कर्म ज्ञान और तपस्या की उस समय भी आवश्यकता नहीं यदि हृदय और अनुष्ठान में भक्ति नहीं हो। जीव की परम आवश्यकीय भक्ति वर्त्तमान रहने से गौण-मार्ग द्वय (कर्म-ज्ञान) यदि न भी रहें तो कोई हानि नहीं, किन्तु मूल वृत्ति भक्ति के अभाव में कर्म और ज्ञान के अनुष्ठान से भक्ति उत्पन्न नहीं होसकती। भक्ति स्वतंत्र वृत्ति है-पञ्चरात्र का यही सुस्पष्ट मत है। सुतरां अन्याभिलाष,कर्म,ज्ञान तथा शैथिल्य भक्ति के प्रतिबन्धक हैं और इन्हें ही अभक्ति मार्ग कहते हैं।

अभक्त और अभक्ति से निरपेक्ष होना कर्त्तव्य है

सज्जन पाठकगण ! अभक्ति जीवों के लिये श्रेय नहीं। अतः इससे उदासीन रहें। यदि आप अभक्ति-मार्ग से तटस्थ हो जायँ, यदि अभक्ति मार्ग के प्रति आपका आदर नहीं है, तो उसके लिए आपकी कोई निन्दा नहीं करेगा एवं न तो भक्तों को अभक्तों के प्रति श्रद्धा करने के लिए बाधित करेंगे और न अभक्तों में श्रद्धा न करने से भक्ति नहीं होगी,ऐसा कह सकते हैं। अभक्तों की अवज्ञा करना उचित नहीं, किन्तु उन्हें प्रेमी-भक्त कहना भी ठीक नहीं। उनके मायावाद अथवा योगमार्गीय सिद्धान्त-विरुद्ध पद्धति को भक्ति के अन्तर्गत न समझें। अभक्ति कभी भी भक्ति की समजातीय नहीं।

—जगद्गुरू ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर